

असंतोष की आग से बचिए



— पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

असंतोष की आग से बचिए

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो० : ०९९२७०८६२८९, ०९९२७०८६२८७

फैक्स : २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३

मूल्य : ७.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि

मथुरा (उ० प्र०)

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१३

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

असंतोष की आग से बचिए

महत्वाकांक्षाएँ अनियंत्रित न होने पावें

आजकल हमारा जीवन संघर्ष इतना बढ़ गया है कि हमें जीवन में संतोष और शांति का अनुभव ही नहीं हो पाता। बहुत से लोग जीवनभर विकल और विक्षुब्ध ही रहते हैं। हम जीवन में दिन-रात दौड़ते हैं, नाना प्रयत्नों में जुटे रहते हैं। कभी इधर कभी उधर हमारी घुड़-दौड़ निरंतर चालू ही रहती है। किंतु फिर भी हममें से बहुत कम ही जीवन की प्रेरणाओं का स्रोत ढूँढ़ पाते हैं, विरले ही जीवन की यथार्थता का साक्षात्कार कर पाते हैं। जहाँ हमें सहज ही शांति और संतोष की उपलब्धि होती है, वहाँ बहुत ही कम पहुँच पाते हैं। आजीवन निरंतर सचेष्ट रहते हुए भी हममें से बहुतों को अंत में पश्चात्ताप और खिन्नता के साथ ही जीवन छोड़ना पड़ता है।

हमें लक्ष्य-भ्रष्ट करने में विकृत महत्वाकांक्षाओं का बड़ा हाथ है। ये हमें जीवन के सहज और स्वाभाविक मार्ग से भटकाकर गलत मार्ग पर ले जाती हैं। इनके कारण हमें जो करना चाहिए, उसकी तो हम उपेक्षा कर देते हैं और जो हमें नहीं करना चाहिए, वह करने लगते हैं।

यों जीवन में आकांक्षाओं का होना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना तो जीवन जड़ बन जाएगा। प्रगति का द्वार ही बंद हो जाएगा। आज संसार का जो विकसित प्रगतिशील स्वरूप दिखाई देता है, वह बहुत से व्यक्तियों की आकांक्षाओं का ही परिणाम है। किसी वैज्ञानिक के मस्तिष्क में जब यह प्रश्न उठता है कि यह क्या है, कैसा है, कैसे चल रहा है? तो उसे जानने के लिए मचल उठता है, उसके लिए तन्मय होकर अपने को अंत तक लगाए रखना, संसार में महान वैज्ञानिक आश्चर्यों का द्वार खोल देता है।

असंतोष की आग से बचिए)

साहित्यकार के मन में जब भावनाओं का उद्रेक होता है, तो वह भी जगत के समक्ष उन्हें व्यक्त कर देने के लिए आतुर हो उठता है और यही आकांक्षा काव्य के रूप में निखर उठती है। कोई भी क्षेत्र हो विज्ञान का, दर्शन या धर्म का, कला या कृति का, सभी क्षेत्रों में जो उपलब्धियाँ आज तक हो पाई हैं, वे मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं का ही परिणाम हैं। संसार में जितने भी बड़े काम हुए हैं, वे सब महत्वाकांक्षाओं ने ही कराए हैं।

यद्यपि कुछ न कुछ आकांक्षाएँ सभी में होती हैं, तथापि हर आकांक्षा को महत् नहीं कहा जा सकता। आकांक्षाएँ जब स्वयं व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी हितसाधक होती हैं तभी वे महत्वाकांक्षाएँ हैं। किसी को नुकसान पहुँचाने या डाकू बनकर लूट-पाट करने के लिए किए जाने वाले दुस्साहस को महत्वाकांक्षा नहीं कहा जा सकता। स्वर्गीय चितरंजनदास के शब्दों में—“महत्वाकांक्षाएँ जब परार्थ प्रेरित होती हैं, तभी तक ये महत् हैं।” जिनसे समाज का अहित होता है, जो रचनात्मक न होकर विनाशात्मक हों, ऐसी महत्वाकांक्षा रावण, कंस, दुर्योधन की महत्वाकांक्षा है, जो जगत के लिए हानिकारक और स्वयं उनके जीवन में भी विनाशकारी ही सिद्ध होती हैं। ऐसी दुस्साहसी आकांक्षाओं का अवलंबन लेकर कोई व्यक्ति जीवन में संतोष-शांति का अनुभव कर सके, यह असंभव है।

एक व्यक्ति धार्मिक जीवन इसलिए बिताता है कि इससे उसका जीवन शुद्ध, निर्मल बनेगा, आत्मा का विकास होगा, ईश्वर का साक्षात्कार होगा, तो उसकी महत्वाकांक्षा उत्तम है, आवश्यक है। लेकिन बहुत से लोग धार्मिक क्षेत्र में इसलिए घुसते हैं कि इससे उनकी पूजा-प्रतिष्ठा होगी, लोग भेंट चढ़ावेंगे, जय-जय करेंगे। कई लोगों को राजनीति में इसलिए आना पड़ता है कि इससे वे अपने देश और समाज की

स्वतंत्रता, अधिकारों की रक्षा और विकास के लिए ठोस प्रयत्न कर सकेंगे। किंतु ऐसे व्यक्तियों की कमी भी नहीं है जो राजनीति को अपनी नेतागिरी जमाने, नाम कमाने, बँगले और कोठियाँ बनाने, जायदाद इकट्ठी करने का साधन बनाते हैं।

किसी क्षेत्र में अपने स्वार्थ और दूसरों को हानि पहुँचाकर आगे बढ़ने की आकांक्षाएँ महत् नहीं, इन्हें निकृष्ट और हेय ही माना जाना चाहिए, इनका परिणाम सदैव दुःखद और असंतोषजनक ही है। इन विकृत महत्त्वाकांक्षाओं के कारण ही हम जीवनभर सहज मार्ग को नहीं अपना पाते। हमें जो करना चाहिए उसकी तो उपेक्षा करने लगते हैं और जो नहीं करना चाहिए, उनमें हाथ डालने का दुस्साहस विकृत महत्त्वाकांक्षाओं से ही प्रेरित होता है। शांति-संतोष की स्थायी सफलता की कामना रखने वाले साधक को इन भूल-भुलैयाँ से बचना चाहिए।

एक सज्जन थे, जो चुनावों में दो बार हार जाने का रोना रोते हुए कह रहे थे—“क्या करें साहब, राजनीति का ऐसा नशा है, जो छुड़ाए नहीं छूटता।” स्मरण रहे मनुष्य की जो प्रवृत्तियाँ किसी नशे से प्रेरित होंगी, उनका परिणाम क्या उस नशेबाज की स्थिति पैदा नहीं कर देगा, जो एक दिन औंधे मुँह गंदी नाली में गिर पड़ता है, लोग उसके ऊपर हँसते हैं। जिन आकांक्षाओं के पीछे कोई नशा काम करता है, वे महत्त्वाकांक्षा कैसे हो सकती हैं? महत्त्वाकांक्षा तो उत्कृष्ट, महान आदर्श के साकार करने का साहस तथा कर्मठतायुक्त अभियान है, जिसके गर्भ में स्वस्थ और संतुलित मनोभूमि, जागरूक चेतना, विवेकयुक्त बुद्धि काम करती है।

विकृत महत्त्वाकांक्षा निम्नगामिनी होती है—इस आईने में जब मनुष्य अपनी तसवीर देखकर उस ओर उन्मत्त होकर दौड़ता है, तो परिणाम में उसकी स्थिति उस बाज की-सी हो जाती है, जो आकाश

से मकान या धरती पर पड़े शीशे के टुकड़े में अपना प्रतिबिंब देखकर उस ओर झपटता है। शीशे से टकराकर घायल हो जाता है। विकृत महत्वाकांक्षाएँ मनुष्य को मृग-मरीचिका की तरह भटकाती हैं। यथार्थ को भुलाकर स्वप्न-लोक की दुनिया में भटकाती हैं। ये हवा के उस बबूले की तरह हैं, जो एक सूखे पत्ते को आसमान में उठा देता है, लेकिन ज्यों ही बबूला नष्ट होता है, पत्ता धरती पर आ पड़ता है।

अपनी महत्वाकांक्षाओं के बारे में हमें विवेकपूर्ण बुद्धि से सोचना चाहिए कि वे कितनी यथार्थ और कितनी उपयोगी हैं? कहीं उन्होंने हमें भुलावे में तो नहीं डाल रखा है? वे हमें जीवन के सही रास्ते पर ले जा रही हैं या हमें पथभ्रष्ट कर रही हैं? किन्हीं प्रलोभनों के पीछे तो हम नहीं दौड़ रहे हैं? हमारी आकांक्षाओं के पीछे कोई स्वार्थ बुद्धि तो काम नहीं कर रही है? यह सब विचारणीय है। महत्वाकांक्षाएँ यदि निकृष्ट स्तर की हों तो उन्हें त्याग देना चाहिए। श्रेयस्कर तो केवल श्रेष्ठता की ओर ले जाने वाली महत् आकांक्षाएँ ही हो सकती हैं।

तीन एषणाएँ

असंतोष का असुर तीन रूप बनाकर अपनी मायावी दुष्टता के साथ हमारे सामने प्रस्तुत होता रहता है और प्रेम तथा आनंद के साथ जीवनयापन कर सकने वाली सहनशीलता में पलीता लगाता रहता है। (१) वित्तेषणा (२) पुत्रेषणा, (३) लोकेषणा; असंतोष के यही तीन स्वरूप हैं। धन, वासना और अहंता की तृष्णा जब अमर्यादित हो उठती है, तो उसे एषणा कहा जाता है। उचित प्रयत्न के साथ उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित रीति से धन कमाया जाना उचित है, यह प्रशंसनीय और आवश्यक भी है, क्योंकि इसके बिना अपने शरीर और परिवार का निर्वाह नहीं हो सकता। जिन्होंने गृहस्थ धर्म अपना लिया है और विवाहित जीवनयापन कर रहे हैं, उनका

उचित मर्यादा के अंतर्गत संतानोत्पादन को दृष्टि रखकर कामोपभोग भी उचित है। अपने पीछे अपने स्मारक के रूप में समाज के श्रेष्ठ नागरिकों को श्रद्धांजलि अर्पित करके जाना ही संतानोत्पादन का उद्देश्य है। कामसेवन उसका एक विनोदभरा शुभारंभ मात्र है।

हम शुभ कार्य करके दूसरों की दृष्टि में अपना सम्मान स्थिर करें और अपने आत्मगौरव के अनुरूप सेवा और सदाचार भरा उत्कृष्ट जीवनयापन करते हुए श्रद्धा के भाजन बनें, यह यशस्वी होने की आकांक्षा भी उचित है। क्योंकि इसी से प्रेरित होकर मनुष्य कष्टसाध्य शुभ कर्मों को करने के लिए तैयार होता है। पर ये तीनों ही आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकना असंतोष और अधीरता से संभव नहीं। इससे तो मनुष्य मर्यादाएँ छोड़कर उच्छृंखलता पूर्वक अनुचित मार्ग अपना लेता है।

वित्तेषणा की डाकिन

धन, वासना और अहंता की उचित और व्यवस्थित प्रगति तो विवेक एवं दूरदर्शिता के आधार पर ही संभव हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम आज की स्थिति पर संतोष अनुभव करते हुए मन को प्रसन्नता से, आशा से, उत्साह से परिपूर्ण रखें, जिससे प्रगति का कठिन मार्ग पार करते हुए हम दिन-दिन ऊँचे उठ सकने की स्थिति को प्राप्त कर सकें। असंतुष्ट व्यक्ति एक प्रकार का उन्मत्त होता है, जो स्वयं परेशान रहता है और दूसरों को भी परेशान करता है। परिस्थितियों के साथ समझौता करके ही इस संसार में सबको काम चलाना पड़ता है। परिस्थितियों को अपने अनुरूप ढालने में लगा रहना चाहिए, पर साथ ही अपने को भी परिस्थितियों के अनुरूप ढालना चाहिए।

हमें तीनों एषणाओं से बचते हुए आनंद-उल्लास का, प्रेम और संतोष का नैतिक जीवन व्यतीत करने की ही इच्छा करनी

चाहिए। बड़ा आदमी बनने की महत्वाकांक्षा वाले व्यक्ति इस संसार में अत्यधिक हानिकारक सिद्ध होते हैं। आततायी उपद्रवकारियों की तरह वे दूसरों को पददलित करते हुए उनकी लाशों पर ही चढ़कर बड़े बन पाते हैं। इसलिए भौतिक विभूतियों की तृष्णा को अध्यात्मवाद की दृष्टि से सदा ही हेय माना जाता रहा है। उसे रोकने को और नियंत्रित रखने के लिए पग-पग पर शिक्षण दिया जाता रहा है। समाज का संतुलन महत्वाकांक्षी लोग ही बिगाड़ते हैं, इसलिए इन मानसिक रोगियों से ऐसे ही सतर्क रहना चाहिए, जैसे ईंट मारने वाले पागलों से बचा जाता है।

आज धन के लिए हर व्यक्ति प्यासा-सा फिरता है। धन, अधिक धन और अधिक धन, यह एक ही पुकार हर दिल और दिमाग में से उठती सुनाई देती है। धर्मध्वजी संत-महंतों से लेकर जेबकट और चोर-डाकुओं तक हर वर्ग के लोग धन की आकांक्षा से अपने चरखे चलाते रहते हैं। विचारणीय बात है कि क्या धन की उतनी ही आवश्यकता है, क्या गरीबी इस सीमा तक पहुँच गई है कि मनुष्य को निरंतर धन के लिए उद्ध्विग्न हुए बिना काम न चले? बात ऐसी बिलकुल भी नहीं है। भगवान ने इतनी वस्तुएँ और साधन-सामग्री इस धरती पर पहले से ही पैदा कर रखी हैं कि मिल-बाँटकर मनुष्य अपना गुजारा कर सकें और शांति तथा आनंद के साथ हिल-मिलकर प्रेमपूर्वक जीवनयापन करते हुए लक्ष्यप्राप्ति के लिए अग्रसर हो सकें।

रोटी, कपड़ा और मकान, मनुष्य जीवन की प्रधान भौतिक आवश्यकताएँ हैं। ये आवश्यकताएँ इतनी छोटी और थोड़ी हैं कि बड़ी आसानी से थोड़े ही समय के उचित श्रम से उन्हें पूरा कर सकते हैं। गरीब कहे जाने वाले लोग भी इन तीनों आवश्यकताओं को पूरा कर लेते हैं और संतोषपूर्वक हँसते-खेलते जीवन व्यतीत करते रहते हैं।

इसके विपरीत वे लोग हैं, जिनके यहाँ सब कुछ होते हुए भी दिन-रात धन की हाय-हाय लगी रहती है। अशांति, बेचैनी, चिंता और परेशानी से रहित जिनका एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता ऐसे लोग वस्तुतः बड़े दयनीय हैं। बेचारे न जीवन का मूल्य समझ सके और न उसका लाभ प्राप्त कर सके। इन अभागों की दुर्दशा पर केवल दुःख के आँसू ही बहाए जा सकते हैं। असंतोष की आग में जलते रहने वाले यह अमीर वस्तुतः विशाल अस्पताल के कीमती पलंगों पर पड़े हुए वह रोगी हैं जो आग से झुलसे हुए हैं, जिनके बाहर और भीतर आग ही आग, जलन ही जलन पीड़ा दे रही है। कीमती इमारत एवं बहुमूल्य पलंग का क्या सुख इन बेचारों को मिल सकेगा ?

भारत गरीब देश है, यहाँ हर आदमी की औसत आमदनी बहुत थोड़ी है। हमारा उत्पादन कम है। योग्यता और क्षमता भी स्वल्प है। ऐसी दशा में राष्ट्रीय आय का स्वल्प होना स्वाभाविक है। इसलिए हममें से हर एक को यह प्रयत्न करना चाहिए कि उतना ही खर्च अपने ऊपर करे, जितना कि मध्यम वर्ग के भारतीय नागरिकों को अपने ऊपर करना उचित है। यदि कुछ लोग अपने ऊपर अधिक खर्च करेंगे, अधिक जमा करने की सोचेंगे, तो उनके कार्यों से दूसरों को उतना ही अभावग्रस्त रहना पड़ेगा। एक ऊँची मीनार खड़ी करने पर जमीन में उतना ही गहरा गड्ढा कहीं न कहीं करना पड़ता है। एक व्यक्ति धनी तभी हो सकता है जब दूसरे अनेकों के हिस्से की राष्ट्रीय आय का भाग अपने नीचे दबा ले। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप दूसरे अनेकों को अभावग्रस्त एवं गरीब रहने के लिए विवश होना पड़ता है। इसलिए संग्रह की, विलासिता की प्रवृत्ति को हेय माना गया है। अध्यात्मवाद के अपरिग्रह से लेकर भौतिकवादी साम्यवाद तक, सभी न्यायसंगत दृष्टिकोण का निष्कर्ष एक ही है कि हर व्यक्ति को उतनी

ही सुख-सुविधा प्राप्त रहे, जितनी कि उस समय के मध्यवर्गीय नागरिकों को प्राप्त होती है।

वर्तमान अर्थतंत्र के कारण यदि किसी व्यक्ति की आमदनी अधिक होती है तो उसका कर्तव्य है कि उसे समाज को पुनः दान आदि के रूप में लौटा दे। हाथ में पाँच उँगलियाँ होती हैं। उनमें से कुछ छोटी कुछ बड़ी भी हैं। योग्यता और पुरुषार्थ के आधार पर यह अंतर मनुष्य की सुख-सुविधाओं में भी रह सकता है, पर यह होना उतना ही चाहिए जितना कि उँगलियों की लंबाई में होता है। यह अनुपात दस-पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं है। इससे अधिक अंतर यदि लोगों की आर्थिक स्थिति में रहेगा तो उससे समाज में अशांति ही उत्पन्न होगी। उससे ईर्ष्या और अनाचार का ही जन्म होगा। यह एक तथ्य है जिसे हम चाहें विवेक, उदारता और न्याय की दृष्टि से अपनाकर अपनी महानता का परिचय दे सकते हैं, अन्यथा आज नहीं तो कल बलपूर्वक ऐसा करने के लिए विवश किया जाने लगेगा।

गरीब और अमीर के बीच इतना अंतर किसी भी प्रकार स्थिर नहीं रह सकता जितना कि आज देखा जाता है। संत विनोबा के भूदान आंदोलन से लेकर सरकार की कर-नीति तक धीरे-धीरे सब ओर से यही प्रयत्न चल रहे हैं कि व्यक्ति अधिक संपन्न न रहने पावे। इस युगवाणी को हम विवेकपूर्वक सुन लें और अमीरी की महत्वाकांक्षाएँ छोड़कर मध्यवर्ती जीवनयापन करने की बात तक अपने को सीमित कर लें, तो हमारे असंतोष का एक बहुत बड़ा कारण अनायास ही समाप्त हो सकता है। गुजर के लायक हम सब कमाते भी हैं, प्रयत्न करके इसे कुछ और भी बढ़ा सकते हैं। अमीरी के सपनों का नशा यदि हमारे मस्तिष्कों पर से उतर जाए तो स्वस्थ, सुविकसित एवं शांतिमय जीवनयापन करने के लिए हमें एक नई दिशा मिलती है।

हमारे खरच दिन-दिन बढ़ते चले जा रहे हैं। विलासिता की बिल्कुल बेकार आदतों को हम दैनिक आवश्यकता मान बैठे हैं। और अंधाधुंध बढ़ाए चले जा रहे हैं। हर व्यक्ति अपने से अधिक अमीर की नकल करके स्वयं भी अमीर कहलाने की मृगतृष्णा में भटक रहा है। अमीरों के से ठाठ-बाट बनाने में गरीब लोग जब अपनी औकात और हैसियत का ध्यान छोड़ देते हैं, तब एक उपहासास्पद स्थिति पैदा हो जाती है। फैशन का भूत लोगों पर इसलिए सवार है कि वे कीमती पोशाक, जेवर, नगीने पहनकर, ठाठ-बाट इकट्ठा करके बड़े और अमीर आदमी समझे जाने लगे। फैशनपरस्ती एक घटिया दर्जे का छिछोरापन है।

अमीरी की विडंबना बनाने में जो फजूलखरची के उपकरण जुटाते हैं, उन्हें बालबुद्धि ही कहा जा सकता है। आज जो विलासिता की सामग्री को भी आवश्यकता समझने की हमारी बुद्धि भ्रमित होने लगी है। सिनेमा, बीड़ी, मटरगश्ती, शृंगार-साधन, चाय-पानी, यार-दोस्त आदि महकमे काफी खरचीले बैठते हैं। कीमती कपड़े के कई-कई जोड़े रखने, जेवर आदि बनाने में ढेरों पैसा खरच होता है। हाथ से काम न करके, छोटे-छोटे कामों को स्वयं न करके पैसे देकर कराने में आलसी भी बनना पड़ता है और पैसा भी खरच होता है। टूटी-फूटी चीजों की मरम्मत न कराके उन्हें पूर्णरूपेण बेकार हुए बिना ही फेंक दिया जाता है। अव्यवस्थित रूप से पड़ी हुई चीजें समय से पूर्व ही नष्ट और बरबाद होती रहती हैं। खरच में हाथ खुला रहने पर उचित आमदनी होने पर भी तंगी बनी रहती है। उधार की आदत फजूलखरची को बहुत बढ़ा देती है। जब कभी जो कुछ भी लेना हो, नकद लेना चाहिए और उतना खरच करना चाहिए जितनी आमदनी हो। उधार देना भी आज के अनैतिक युग में अपने पैसे को सड़क पर बखेर देने

के समान है। लेकर वापस देने वाले कोई विरले ही देखे जाते हैं। सामाजिक कुरीतियों में वाहवाही और लोकाचार की उपेक्षा करके ही पैसे की व्यर्थ बरबादी को रोका जा सकता है। यह सूत्र है जिन पर विस्तारपूर्वक विचार करके हम मितव्ययी बन सकते हैं और आर्थिक तंगी के कारण उत्पन्न होने वाले असंतोष से बच सकते हैं। बुद्धिमानी पैसा कमाने में नहीं, उसके खर्च करने में है। कमाई तो कभी-कभी अनायास भी हो सकती है, पर खर्च के संबंध में मनुष्य कितना सतर्क रहा है इससे उसकी बुद्धिमानी परखी जा सकती है।

सादगी, मितव्ययता और सामान्य श्रेणी का जीवनयापन करने में ही मनुष्य का गौरव है। सज्जनता का यही परिधान है। समाज में जब तक यह प्रवृत्ति विकसित न होगी, हम अशांति और असभ्यता की ओर बढ़ते रहेंगे। कहते हैं कि जरूरतों से प्रेरित होकर मनुष्य दुष्कर्म करते हैं, फिर हम इसकी जड़ को ही क्यों न काटें। अपनी जरूरतों को ही सीमित क्यों न करें, जिससे दुष्कर्म करने की आवश्यकता ही न पड़े। संतोषी को सबसे बड़ा सुखी माना गया है। वित्तेषणा पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए यदि हम सादगी को अपनी जीवन-नीति बना लें और मितव्ययता को अपनाकर तृष्णा को निरर्थक अनुभव करने लगे, तो सचमुच अपना जीवन बड़ा सुखी हो सकता है। यदि स्वयं सुखी रहना और दूसरों को शांति से रहने देना हमें अभीष्ट हो तो वित्तेषणा को अस्वाभाविक, अनैतिक, अवांछनीय एवं अनुपयुक्त मानना पड़ेगा। यह डाइन जब तक हमारे पीछे पड़ी रहती है, तब तक न चैन की साँस लेने का अवसर मिलता है और न दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारे का कोई मार्ग रह जाता है। जिसे निरंतर धन की हाय लगी हुई है, वह सज्जनता और सदाचार का जीवन देर तक नहीं बिता सकता। अवसर आते ही उसका अनीति के मार्ग पर फिसल पड़ना निश्चित है। यह फिसलन ही

असभ्यता है। सभ्य समाज की रचना के लिए वित्तेषणा को अपना प्रथम शत्रु मानते हुए सादगी, सीमितता और सज्जनता की बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए।

पिशाचिनी पुत्रेषणा

जीवनयापन के लिए थोड़े से धन की नियमित आजीविका की आवश्यकता पड़ती है, निर्वाह की अनेक आवश्यकताओं में से एक धन भी है। उसके लिए भी ध्यान देना एवं प्रयत्न करना आवश्यक है। पर यदि सब ओर से ध्यान हटाकर धन को ही एकमात्र लक्ष्य मान लिया जाए और उसी की बात दिन-रात सोचते रहा जाए, उसी के निमित्त पूरा जीवनक्रम लगाए रखा जाए तो यह बहुत ही अनुचित बात है। इसी को वित्तेषणा कहते हैं। साधन न रहकर जब धन साध्य बन जाता है तो उस तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य बुरे से बुरे काम करते हैं। गरीबी नहीं, तृष्णा दुष्कर्मों की जननी है। गरीब भीख माँग सकता है या पेट भरने लायक कोई छोटी-मोटी बुराई कर सकता है। उसमें इतनी अकल कहाँ होती है, जो बड़े-बड़े योजनाबद्ध प्लान बनाकर अनैतिक उपायों पर परदे डालकर बहुत कुछ डकार जाए। यह कार्य सुशिक्षित, साधन संपन्न और सामर्थ्यवान लोगों का ही है।

डाकू गरीब नहीं होते, गरीब बंदूक कहाँ से प्राप्त करेगा? शरीर में इतना बल कहाँ से लावेगा? रिश्वतखोरी, बेईमानी, ठगी के जो विशालकाय अनर्थ होते हैं, वे सब उच्च वर्ग के लोगों द्वारा ही संपन्न किए जाते हैं। उसके मूल में गरीबी नहीं धन की तृष्णा होती है। निर्वाह के लायक उचित आवश्यकताएँ पूर्ण करने योग्य धन के उपार्जन और संग्रह की मर्यादा सीमित करके मनुष्य सुखी हो सकता है; अपने चरित्र को सँभाले रख सकता है। बाल-बच्चों को उत्तराधिकार में मुफ्त का माल देकर उन्हें निकम्मे बनाने से बचाए रह सकता है और जनसाधारण

में ईर्ष्या एवं असंतोष उत्पन्न होने से रोके रह सकता है। धन की असीम तृष्णा में संलग्न व्यक्ति ये सब बुराइयाँ पैदा करते रहते हैं। यह तृष्णा उनके निज के लिए ही नहीं, सारे समाज के लिए घातक सिद्ध होती है। इसलिए वित्त को नहीं वित्तषणा को निंदनीय ठहराया गया है। इस दिशा में संतोष की, मर्यादा की मनोवृत्ति रखकर ही मनुष्य अपने मानसिक-स्तर को इतनी फुरसत में रख सकता है कि वह अपने आत्म-कल्याण की बात सोच सके और उसके लिए कुछ कर सके। इस तृष्णा से बचे रहने वाले के पास ही इतना मन, उत्साह और खाली समय रह सकता है कि वह देश धर्म की कुछ बात सोच सके और उसके लिए प्रयत्न कर सके। श्रेय मार्ग पर ध्यान दिए बिना, उसके लिए समय लगाए बिना, जीवन सफल एवं सार्थक नहीं हो सकता और इधर कदम उठा सकना उन्हीं के लिए संभव है, जिनका मन धन को नहीं, जीवन के सर्वांगीण विकास को अपना लक्ष्य निर्धारित कर सका होगा।

दूसरी दुष्प्रवृत्ति है—पुत्रेषणा। पुत्रेषणा का मोटा अर्थ संतानोत्पादन है। इसका पाशविक रूप काम-वासना है। सृष्टि का क्रम बंद न हो जाए इस दृष्टि से उस बाजीगर ने प्राणियों के शरीर और मन में एक ऐसा विकार उत्पन्न कर दिया है जिसके आकर्षण से वशीभूत होकर उसे परिवार बनाने और बढ़ाने का कठिन काम पूरा करने में आनाकानी न करनी पड़े। विचारपूर्वक देखा जाए तो प्रजनन की क्रिया माता के लिए प्राणघातक संकट जैसी है। नौ महीने गर्भ में बालक का शरीर वह अपने शरीर का रक्त-मांस देकर ही बनाती है। इतना मांस और रक्त अपने शरीर में से देकर वह बहुत कुछ खोती ही है। बहुत दिन तक जो दूध पिलाती है यह भी उसी का रक्त छाती में से होकर दूध बनकर निचुड़ता रहता है। गर्भ के दिनों में माता का स्वास्थ्य कितना गिर जाता

हैं, इसे सब कोई जानते हैं। प्रसवकाल की पीड़ा की कल्पना कर सकना भुक्तभोगी के लिए ही संभव है। फिर बालकों के लालन-पालन में दिन-रात किस तरह गुजारने पड़ते हैं, इस परिश्रम का अनुमान लगाया जाए तो लगता है कि माता को कितना अधिक कष्ट सहन करना पड़ता है। यदि इतनी बड़ी कठिनाई को समाज के लिए कोई महत्त्वपूर्ण उपहार सुसंतति के रूप में देने की पूर्ण तैयारी के साथ किया गया हो तो बात दूसरी है, अन्यथा जो मानव-जीवन सत्कर्मों में लग सकता था उसे संतानोत्पादन जैसे कष्ट-साध्य कार्य में लगाकर और कुसंस्कारी बालक उत्पन्न करके अपने लिए उनके लालन-पालन और समाज के लिए कुसंस्कारक सेना के द्वारा होने वाले उपद्रवों के बढ़ाने में भला क्या अच्छाई हो सकती है ?

काम-विकार से ग्रसित होकर लोग बिना विचारे संतानोत्पादन का महान उत्तरदायित्व कंधे पर ले बैठते हैं और उसके वहन करने के योग्य परिपूर्ण क्षमता न होने पर अपने लिए ही नहीं, सारे समाज के लिए संकट उत्पन्न करते हैं। संतानोत्पादन के द्वारा समाज को श्रेष्ठ नागरिक प्रदान करने की परिपूर्ण जिम्मेदारी के लिए समुचित तैयारी होने पर कामसेवन की सार्थकता कही जा सकती है, पर केवल विकारग्रस्त होकर क्षणभर के सुख के लिए प्रजनन और बालकों का भार उठाने जैसे कार्य निस्संदेह एक दुस्साहस मात्र हैं। आज ऐसा ही अविवेकपूर्ण दुस्साहस चारों ओर बढ़ रहा है। इससे बालकों की जनसंख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि खाद्य समस्या से लेकर वस्त्र, मकान, चिकित्सा, शिक्षा, रोजी, रोटी आदि के सभी साधन पिछड़ते चले जा रहे हैं। सारे साधन जुटाकर बढ़ती हुई जनसंख्या के उपयुक्त आवश्यक साधन जुटाने में विचारशील लोग लगे हुए हैं, पर जितना बन पाता है, उससे कहीं ज्यादा आवश्यकता यह बढ़ती हुई जनसंख्या उत्पन्न कर देती है।

संसार के प्रमुख विचारकों एवं समाजशास्त्री वैज्ञानिकों ने ब्रह्म स्पष्ट घोषणा की है कि यदि प्रजनन का यही क्रम जारी रहा तो कुछ ही दिन में अन्न, स्थान, निवास की समस्या काबू से बाहर हो जाएगी। प्रो० हर्मन वेरी का कथन है—“ईसा के १० हजार वर्ष पूर्व सारी दुनिया में मनुष्यों की आबादी केवल १० लाख थी। वह अब बढ़कर ६ अरब हो गई। वृद्धि के इस अनुमान से २०५० में दुनिया की आबादी ९ अरब हो जाएगी, तो प्रति व्यक्ति के हिस्से में १ वर्ग मीटर जमीन आवेगी। तब धरती पर इतने लोगों के लिए न खाना मिल सकेगा, न शुद्ध वायु, न पानी और न बिजली। मकानों में सोने के लिए जगह न बचेगी, उनमें खड़े भर रहा जा सकेगा। जानवरों का नामो निशान तक दुनिया से मिट जाएगा; क्योंकि जब मनुष्यों के रहने और खाने के लिए ही धरती की शक्ति पर्याप्त न होगी, तो बेचारे पशुओं को उसमें से कौन हिस्सा बँटाने देगा। लोग उन्हें मार-काटकर बहुत पहले ही चट कर जाएँगे।”

बढ़ती हुई जनसंख्या अगणित समस्याएँ उत्पन्न करेगी। इस बढ़ती हुई महँगाई और घटती हुई आमदनी में अंधाधुंध बच्चे पैदा करते जाना किसी भी दृष्टि से बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। यदि बच्चे की उचित शिक्षा का, उचित पोषण का ठीक प्रबंध वर्तमान आर्थिक अव्यवस्था में नहीं हो सकता तो उनको उपजाया ही क्यों जाए? संतान पैदा करना एक महान उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लेना है। यह उचित तो है, पर शर्त यही है कि उसके लिए आवश्यक क्षमता और योग्यता हमारे में हो। स्वास्थ्य, शिक्षा और धन की दृष्टि से हम इतने समर्थ हों कि अपने जीवन की उचित आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साथ-साथ बच्चों को सभ्य नागरिक बना सकने में समर्थ हो सकें।

स्वास्थ्य की सुरक्षा, दीर्घ जीवन, शक्ति की स्थिरता का ब्रह्मचर्य से अटूट संबंध है। प्राचीनकाल में इस ओर पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता

था फलस्वरूप स्वास्थ्य की स्थिति बहुत ही उत्तम रहती थी। अब जबकि काम-वासना को एक क्रीड़ा-कौतुक मान लिया गया है और खिलवाड़ एवं मनोरंजन की तरह उसका उपयोग किया जाने लगा है, स्वास्थ्य की बरबादी भयंकर रूप से सामने आ रही है। चेहरों के तेज नष्ट हो चले हैं, मस्तिष्क जरा-सा काम करने में दरद करने लग जाता है, शरीरों में हर घड़ी थकान छाई रहती है, परिश्रम करते नहीं बनता, कमजोरी नस-नस में व्याप्त रहती है। लगता है देह का हर कल-पुरजा खोखला हो चला है और जीवन की गाड़ी किसी प्रकार मौत के दिन पूरे करने के लिए लड़खड़ा-लड़खड़ा कर चल रही है। स्वास्थ्य की इतनी बरबादी का प्रधान कारण यह काम-कौतुक ही है। जिसमें ग्रस्त होकर हमारे छोटे-छोटे बच्चे तक अपना सर्वनाश करने में लगे हुए हैं। किशोरावस्था पार करते-करते उन्हें बुढ़ापा आ घेरता है और जवानी आने से पहले ही मौत की घंटी बजने लगती है।

सिनेमा, अश्लील चित्र, बेहूदा साहित्य, गंदे गाने तथा कुसंग का वातावरण वासना की आग बुरी तरह भड़काने में लगे हुए हैं। फलस्वरूप हमारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य चौपट होता चला जा रहा है। इस दुर्गति की स्थिति में समाज की श्रेष्ठता की आशा तो की ही कैसे जाए? भाई-बहन की पिता-पुत्री की दृष्टि से नर-नारी अब आपस में एक-दूसरे को कहाँ देखते हैं? वासना की दूषित दृष्टि का रंगीन चश्मा आँखों पर चढ़ा होता है और विकारपूर्ण अनैतिक ढंग से सोचने की एवं वैसी ही चेष्टाओं का अवसर ढूँढ़ने की प्रवृत्ति मन में भरी होती है। फलस्वरूप मानसिक ओज का निरंतर क्षरण होता रहता है।

यह दृष्टि दोष, यह विकार-चिंतन किसी भी संक्रामक रोग से कम भयंकर नहीं है। हैजा, प्लेग, फ्लू, कोढ़, तपेदिक, चेचक, इन्फ्लुएंजा जैसी बीमारियाँ स्पष्ट दीखती हैं, इसलिए उनका इलाज भी हो जाता

है। पर विकार दृष्टि का अदृश्य रोग ऐसा है जो न पकड़ में आता है और न उसका किसी अस्पताल में इलाज किया जाता है। दांपत्य जीवन पर इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ता है; गृहस्थ की नींव इस बुराई के कारण कितनी खोखली हो जाती है और अपने बड़ों की दुष्प्रवृत्तियों का बच्चों के कोमल मन पर कैसा घातक प्रभाव पड़ता है, यह बहुत गंभीर प्रश्न है। मानसिक व्यभिचार की हानि शारीरिक व्यभिचार से किसी भी प्रकार कम नहीं है। विचार ही तो अंत में कार्यरूप में परिणत होते हैं। मानसिक विकार आज नहीं तो कल शरीर संयोग के रूप में प्रकट होता है। प्राकृतिक और अप्राकृतिक दुष्प्रवृत्तियों का जन्म मानसिक विकार के कारण ही होता है। भड़कीला शृंगार व्यभिचार का पूर्ण रूप है। वेश्याएँ इसी अस्त्र के आधार पर लोगों में विकार उत्पन्न करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती हैं।

आज भड़कीला शृंगार फैशन कहा जाता है और उसे कला, सुरुचि एवं सभ्यता का चिह्न कहकर पुकारा जाता है। कहा और माना जो कुछ भी जाए वास्तविकता ज्यों की त्यों रहेगी। हमारे उठती उम्र के बच्चे और बच्ची इस पतन-पथ पर कदम न बढ़ावें, इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। पुराने समय में गुरुकुलों की शिक्षा पूर्ण करके गधा-पच्चीसी की कच्ची उम्र पार कर लेने तक छात्रों के सिर मुड़े रखे जाते थे, उन्हें कोई शृंगार नहीं करने दिया जाता था। दर्पण देखने की मनाही थी, क्योंकि इससे अपने रूप-यौवन का गर्व मन में उठता है और उससे किसी को आकर्षित करने की कामना जागती है। इस विष-वृक्ष की पत्ती तोड़ने से नहीं, जड़ काटने से काम चलेगा। उत्तेजक शृंगार की जड़ में वासना का विकार स्पष्ट है, इससे देखने वालों के मन में विक्षोभ उत्पन्न होता है। कुछ विशेष अंगों को ढककर रखने की परंपरा इसी दृष्टि से है। शृंगार-साधनों की जितनी ही वृद्धि होगी

व्यभिचार को उतनी ही उत्तेजना मिलेगी। इसलिए हम सफाई से रहें, स्वच्छता पसंद करें, सादगी से रहें और सभ्य वेशभूषा धारण करें, पर फूहड़पन को न बढ़ने दें। आज फूहड़पन बढ़ रहा है। हमारी भोली बच्चियाँ इसकी बुराई को समझ नहीं पाती और वे दूसरों की देखा-देखी भद्दे ढंग से अपना वेश-विन्यास बनाने लगती हैं। उन्हें समझाया जाना चाहिए कि बेटी, यह न तो सभ्यता है और न भारतीय परंपरा। ढलती उम्र आने से पूर्व तक तो भारतीय लड़कियाँ नीची आँख रखने से लेकर सिर ढकने और घूँघट मारने तक न जाने क्या-क्या प्रतिबंध अपने ऊपर लगाए रहती थीं। अब उतने प्रतिबंधों की भले ही आवश्यकता न रही हो, पर इतनी आवश्यकता तो सदा ही रहेगी कि उठती उम्र में अपेक्षाकृत सादगी अपनाई जाए और भड़कीले शृंगार से यथासंभव अधिकाधिक बचा जाए।

धन के असंतोष की भाँति वासनात्मक असंतोष भी मानसिक शांति को नष्ट करके रख देता है। पतिव्रत और पत्नीव्रत की महानता परलोक और आत्मा की सद्गति की दृष्टि से तो अनिवार्य है ही, सामाजिक जीवन की स्वस्थता की दृष्टि से भी आवश्यक है। हम इस संबंध में एक बहुत छोटी सीमा में अपने को आबद्ध रखें। जिस प्रकार से अपनी कमाई के अतिरिक्त दूसरों का पैसा हड़पना पाप है उसी प्रकार अपनी छोटी-सी दांपत्य मर्यादा के बाहर विकार की दृष्टि रखना भी घातक है। पाप-दृष्टि से हजार नारियों को देखने पर भी संयोग का अवसर एक से भी नहीं मिलता। पाप हजार मन का चढ़ा और लाभ रत्ती भर भी न हुआ। ऐसी व्यर्थ बिडंबना में पाप-पंक में अपने को लिप्त करने से क्या भलाई हो सकती है? जो विवाहित हैं वे समझ लें कि वासना का क्षेत्र उनके लिए उतना ही सीमित है इससे बाहर नहीं। अपनी रूखी-सूखी रोटी खाकर ही हमें संतोष करना

पड़ता है। फिर अपना दांपत्य जीवन जैसा भी कुछ संयोगवश बन गया है उसी में संतोष करके शांति प्राप्त क्यों न करें ?

अविवाहित लोगों को बेवक्त की शहनाई नहीं बजानी चाहिए। अकारण अशांति को आमंत्रण देने से अपना सत्यानाश का सरंजाम ही इकट्ठा होता है। जिनके जोड़े बिछुड़ चुके हैं वे अपनी शक्तियों को संग्रहीत करके अपने शरीर एवं मन को पुष्ट करने में इस अवसर का लाभ क्यों न उठावें ? वासना और कुछ नहीं, मछली का पेट फाड़ डालने वाली आटा लगी लोहे की नोंक मात्र है। इसमें जो क्षणिक-सा जादू भरा आकर्षण है उससे अपने को बचाए रखने की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता लोगों में नहीं है। इसी से वे उस भयानक बरबादी को अपना लेते हैं जिससे यदि बचा जा सका होता तो उनकी गणना संसार के श्रेष्ठ व्यक्तियों में होती, जीवन का लक्ष्य सार्थक होता और समाज को एक कल्याणकारक दिशा प्राप्त होती।

असंतोष हर क्षेत्र में घातक है। धन में ही नहीं वासना के क्षेत्र में भी उसकी भयंकरता उतनी ही प्रचंड है। वित्तेषणा ने समाज का आर्थिक ढाँचा लड़खड़ा दिया है, तो पुत्रेषणा ने मानसिक ढाँचा। संसार को अणु बमों से उतना खतरा नहीं है जितना वासना के बवंडर से। हमारा स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन, नैतिक दृष्टिकोण, पारिवारिक व्यवस्था, आर्थिक ढाँचा, दांपत्य प्रेम, वैयक्तिक पवित्रता सभी कुछ इस बात पर निर्भर है कि काम-वासना की दुष्प्रवृत्ति पर अधिकाधिक अंकुश रखा जाए। यदि इस ओर हमारा मन ललचाता रहा, अपनी मर्यादाओं में जो कुछ उपलब्ध है, उससे अधिक असंतोष धारण करके आक्रमण एवं अपहरण की नीति अपनाई गई तो उससे अनर्थ ही उत्पन्न होगा। सभ्य समाज की रचना में वित्तेषणा के बाद पुत्रेषणा ही दूसरी बाधा है। इसे ब्रह्मचर्य का व्यापक प्रसार करके ही दूर किया जा सकता

है। पिशाचिनी पुत्रेष्णा की ओर से उपेक्षाभाव रखने में ही हमारा कल्याण है।

लोकेषणा की हेय लालसा

काम-वासना की शारीरिक और मानसिक अमर्यादित प्रक्रियाएँ व्यभिचार को जन्म देती हैं और उससे स्वास्थ्य, सद्भाव एवं दांपत्य जीवन की निष्ठा पर भारी आघात पहुँचता है। संतान का सद्गुणी होना बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि पति-पत्नी में हार्दिक प्रेम रहे। जिस दांपत्य जीवन में अविश्वास, संदेह, दुर्भाव एवं मनोमालिन्य बना रहेगा, वहाँ सुसंतति का जन्म कदापि संभव न होगा। चरित्र पर संदेह होना, पति-पत्नी के हार्दिक प्रेम एवं विश्वास में आग लगाने वाला पत्नीता है। 'एक नारी ब्रह्मचारी' वाली कहावत में बहुत कुछ तथ्य है। नारी के लिए पतिव्रत की जो महत्ता है, वही नर के लिए पत्नीव्रत की। रामायण में पतिव्रता के लिए यह धर्म बताया है कि, 'अंध, बधिर, क्रोधी, अति दीना' जैसा पति मिलने पर भी संतुष्ट रहे और उसे ही ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर सेवा करे। ठीक यही बात पति के लिए भी लागू होती है। संयोगवश जैसी भी कुछ काली, कानी, लँगड़ी, अंधी, दुर्गुणी, फूहड़, कर्कशा, मूर्ख, रोगी, अपंग नारी मिल गई है उसे गृहलक्ष्मी, देवी की प्रतिमूर्ति समझकर प्रेमपूर्वक निभाए और अपनी इसी छोटी सी दुनिया से संतुष्ट रहकर कुमार्ग पर मन न दौड़ाए।

सुसंगति के अभाव में पारिवारिक जीवन नष्ट होते चले जा रहे हैं और हर पीढ़ी अपनी पूर्व पीढ़ी की अपेक्षा अधिक दुर्गुणी एवं कुसंस्कारी बनती चली जा रही है। यह असुरता के विकास का क्रम यदि इसी प्रकार चलता रहा तो हमारी सभ्यता और संस्कृति नष्ट होती चली जाएगी और सभ्य समाज की रचना के स्वप्न अधूरे ही पड़े रहेंगे। इसलिए हमें यौन सदाचार के लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए

और इसकी जड़ मानसिक असंयम को दूर करना चाहिए। दृष्टिकोण में से वासना को हटाना और अपने दांपत्य जीवन को ईश्वरीय आज्ञा मानकर संतुष्ट रहना, जहाँ धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से आवश्यक है, वहाँ समाज-रचना की दृष्टि से भी अनिवार्य है। हम व्यभिचार बुद्धि का परित्याग करके जब बहन-भाई के, पिता-पुत्री के पवित्र संबंधों में आनंद का अनुभव करेंगे, तभी यह आशा की जा सकेगी कि हमारा समाज सभ्य बने और जिस स्वर्गीय वातावरण को इस धरती पर अवतरित देखना चाहते हैं, वह आकांक्षा पूर्ण हो।

वित्तेषणा, पुत्रेषणा के अतिरिक्त तीसरी एषणा है लोकेषणा। वाहवाही लूटने की, दूसरों के मुँह अपनी प्रशंसा सुनने की, मानसिक दुर्बलता को लोकेषणा कहते हैं। यों उचित मात्रा में यह वृत्ति भी उचित धन उपार्जन और संयमी दंपति जीवन की तरह उपयोगी होती है, इस आधार पर मनुष्य सत्कर्म करता और अपने चरित्र को ऊँचा रखता है। बुराईयों से बचता और निंदा से डरता हुआ मर्यादा के अंदर रहना सीखता है। इस दृष्टि से यश-कामना को उत्तम माना गया है। पर यह उत्तमता तभी तक स्थिर रहती है जब मनुष्य ईमानदारी से धन कमाने की तरह अपने उत्कृष्ट आचरण एवं श्रेष्ठ सत्कर्मों द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यदि अमीरी का रोब गाँठकर फजूलखरची के द्वारा अपना बड़प्पन सिद्ध करके प्रशंसा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है तो वह लोकेषणा निंदनीय भी है और अहितकर भी।

आज शेखीखोरी, बनावट, ढोंग, फैशनपरस्ती और बड़प्पन दिखाने की बहुत होड़ चल रही है। इन बातों में लोग अपनी हैसियत से बहुत अधिक खरच करते हैं। ठाठ-बाट बनाने में अपनी गाढ़ी कमाई का अधिकांश भाग फूँक देते हैं। कीमती कपड़े पहनने की कोई उपयोगिता समझ में नहीं आती। शरीर ढकने के लिए सीधे-साधे कपड़े पर्याप्त हैं।

पर जब उनमें प्रचुर धन खरच करके कीमती सूट और महँगी साड़ी पहनकर लोग बाजार में निकलते हैं तो उनका उद्देश्य देखने वालों पर रोब गाँठना होता है कि हम बहुत बड़े अमीर हैं। इसी प्रकार जेवर लादे फिरने का फूहड़पन भी इसी ओछी बुद्धि का परिचायक है कि लोग हमें धनी समझें। धनी होने का प्रमाणपत्र गले में लटकाए फिरने, हाथ-पैरों में बाँधे फिरने का फतूर ही जेवर पहनने की भोंडी शक्ल बनाए फिरता है। जो धन बैंक में जमा होकर या किसी कारोबार में लगकर दिन-रात बढ़ता रह सकता था और कितने ही लोगों के लिए रोजी-रोटी उत्पन्न करने वाला बन सकता था, उसे जेवरों में रोककर पंगु बना देना वस्तुतः लक्ष्मी जी का अपमान है।

पैसे की उपयोगिता तभी है, जब वह घूमता रहे। यदि उसे जमीन में गाड़ दिया जाए या जेवर जैसे दिन-रात घटने वाले, ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले, अहंकार बढ़ाने वाले और चोर-उचक्कों का मन ललचाने वाले व्यर्थ कामों में लगा दिया जाए तो उसकी फिर क्या उपयोगिता रह जाती है? यह तो लक्ष्मी देवी के हाथ-पैर तोड़कर उसे लुंज-पुंज बना देने जैसा अनुपयुक्त कार्य हुआ! कीमती पोशाक न पहनकर यदि हम सादे कपड़े पहनें तो यह हमारी सज्जनता और बुद्धिमत्ता का चिह्न होगा। इस विभाग में बचा हुआ पैसा हम अपने और दूसरों के आवश्यक कार्यों में लगाकर अपनी दूरदर्शिता और भलमनसाहत का परिचय दे सकते हैं।

विवाह-शादियों में लोग अंधे होकर पैसे की होली जलाते हैं। उनका प्रयोजन शायद यही रहता होगा कि उत्सव में शामिल होने वाले अथवा दर्शक लोग इन पैसे की होली फूँकने वालों को अमीर समझकर उनकी प्रशंसा करें। मृत्युभोज या अन्य बड़ी-बड़ी दावतों के मूल में भी वाहवाही लूटने की मनोवृत्ति छिपी रहती है। दूसरों की तुलना में अपने

को अधिक अमीर साबित करके अधिक वाहवाही लूटने के लिए अपना घर खाली कर डालते हैं, कर्जदार बन जाते हैं और कई बार तो मतवाले होकर इतना खरच कर बैठते हैं कि पीछे उन्हें अपने आवश्यक कार्यों को ठीक तरह से चलाने में भी कठिनाई अनुभव होने लगती है। मोटर, घोड़ा, गाड़ी, कोठी, बँगले, नौकर-चाकर आदि का भारी सरंजाम आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, ठाठ-बाट दिखाने और अमीरी प्रदर्शित करने के लिए जुटाया जाता है। बड़े आदमी बनने के शौक में जितनी फजूलखरची इन कामों में की जाती है उससे कहीं कम में काम चल सकता है।

किसी जमाने में अमीरी बड़प्पन का चिह्न रही होगी, पर अब जैसे-जैसे विचारशीलता बढ़ रही है, अमीरी को घृणा और ईर्ष्या-द्वेष की दृष्टि से देखा जाने लगा है। सर्वसाधारण की गरीबी और परेशानी को घटाने में अपनी कमाई को खरच न करके जो लोग उसका संग्रह करते चले जा रहे हैं, अपने ऊपर अंधाधुंध खरच कर रहे हैं और वाहवाही लूटने के लिए उसे फूहड़पन के साथ उलीचते हैं, उन्हें स्वार्थी, निष्ठुर एवं मदांध ही कहा जा सकता है। बड़प्पन पाने की आशा से जो लोग यह उद्धतपन करते हों, उन्हें यह बात गाँठ में बाँध लेनी चाहिए कि उनका यह छिछोरापन प्रशंसा का नहीं निंदा का कारण बनता चला जा रहा है और वह समय दूर नहीं जब इस प्रकार की मूर्खता अवांछनीय मानी जाने लगेगी। लोग उनसे घृणा करके ही चुप न हो जाएँगे वरन ऐसे उद्धत प्रदर्शनों का विरोध करेंगे और रोकेँगे।

सार्वजनिक संस्थाओं का सत्यानाश इसी प्रवृत्ति ने किया है। पदाधिकारी बनने की हवस में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण जन-संगठन ईर्ष्या और कलह के अखाड़े बने हुए हैं। हर कोई बड़प्पन और पदवी चाहता

है, जिसे मिल जाती है वह फिर उसे सदा के लिए छाती से चिपकाए बैठा रहना चाहता है। जिसे नहीं मिलती, वह सत्ता प्राप्त को पदच्युत करने के लिए ही नहीं, उस संस्था की प्रगति को ही नष्ट करने पर तुल जाता है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी संस्थाएँ इस बीमारी की शिकार हो रही हैं और इसी पारस्परिक कलह में अपनी उपयोगिता एवं शक्ति गवाँती चली जा रही हैं। व्यक्तियों का पतन भी इसी कुचक्र में हो रहा है। एक व्यक्ति स्वयं सत्ता हथियाने और अपने प्रतिद्वंद्वी को गिराने के लिए जितने हथकंडे प्रयोग करता है, जितने कुचक्र और षड्यंत्र बनाने में अपनी शक्ति खर्च करता है, उतनी ही यदि वह सच्चे मन से सच्ची सेवा करने में लगा दे तो लोक-परलोक भी सुधरे, आत्मा को शांति भी मिले और जनता-जनार्दन की कुछ ठोस सेवा भी बन पड़े।

प्रशंसा का उद्देश्य लेकर थोड़ा-सा सेवा-कार्य कर देने वाले, लंबे-चौड़े लेक्चर झाड़ने वाले, बढ़-बढ़कर बातें बनाने वाले लोग अपने हथकंडों से बड़प्पन लूटने में सफल हो जाते हैं, यह सामाजिक जीवन के लिए एक खतरा है। राजनीतिक चुनावों में अयोग्य और अनुपयुक्त व्यक्ति भी केवल बड़प्पन प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार खड़े हो जाते हैं और अंधाधुंध धन व्यय कर देते हैं।

थोड़ा-सा दान देकर अपने नाम का पत्थर लगवाने की या नामवरी छपवाने की प्रवृत्ति निम्नकोटि की है। इसमें दान या सेवा का नहीं प्रशंसा प्राप्त करने का अहंकार ही प्रधान है। अहंता को पाप माना गया है, पाप ही नहीं उसे पाप का मूल भी कहा गया है। 'पाप मूल अभिमान' की उक्ति प्रसिद्ध है। यह पाप जहाँ भी रहेगा वहाँ सेवा क्या बन पड़ेगी? सत्कर्म कहाँ संभव होगा? नाम के भूखे पागल लोग, जहाँ नाम नहीं मिलता है वहाँ से खिसकने लगते हैं और वहाँ जोड़-तोड़ भिड़ाते हैं। जहाँ किसी भी प्रकार उन्हें नामवरी प्राप्त हो।

एक संस्था छोड़कर दूसरी में, दूसरी को छोड़कर तीसरी में घुसते-फिरने वाले लोग आमतौर से इसी मर्ज के मरीज होते हैं। सैद्धांतिक मतभेद के कारण तो कोई विरले ही इस प्रकार का परिवर्तन करते हैं। हमारा सार्वजनिक जीवन इस लोकेषणा की दुष्प्रवृत्ति के कारण कितना गंदा और मलिन होता चला जा रहा है, यह देखकर भारी दुःख होता है।

स्वराज्य में विश्वास करने वाले राजनीतिक विचार के लोग जब स्वतंत्रता संग्राम में जुट पड़े तो उस संघबद्ध प्रयत्न ने एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया। निःस्वार्थता एवं संगठन का परिणाम सदा ही चमत्कारिक होता है। धार्मिक जगत में त्यागी समझे जाने वाले लोग यदि अपनी लोकेषणा का त्याग कर सके होते तो भारत की धर्मप्रधान जनता को चारित्रिक दृष्टि से कहीं अधिक समुन्नत कर सकना बहुत ही सरल हो गया होता। धन और वासना का प्रलोभन तो छूट सकता है, पर लोकेषणा तो सबसे प्रबल है। उसका लोभ त्यागी कहे जाने वाले लोगों से भी नहीं त्यागा जाता।

हमें मूक सेवा को महत्त्व देना चाहिए। नींव के अज्ञात पत्थरों की छाती पर ही विशाल इमारतें तैयार होती हैं। इतिहास के पन्नों पर लाखों परमार्थियों में से किसी एक का नाम संयोगवश आ पाता है। यदि सभी सज्जनों का नाम छापा जाने लगे तो दुनिया का सारा कागज इसी काम में समाप्त हो जाएगा। यह सोचकर हमें प्रशंसा की ओर से उदास ही नहीं रहना चाहिए वरन उसको तिलांजलि भी देनी चाहिए। नामवरी के लिए जो लोग आतुर हैं, उनको निम्नस्तर का स्वार्थी ही मानना चाहिए। जो बदले की नीयत से सत्कर्म कर रहा है, वह व्यापारी है। पुण्य और परमार्थ को वाहवाही के लिए बेच देने वाले व्यापारी हीरा बेचकर काँच खरीदने वाले मूर्ख के समान हैं। जिसने

प्रशंसा प्राप्त कर ली उसे पुण्यफल नाम की और कोई चीज मिलने वाली नहीं है। दुहरी कीमत वसूल नहीं की जा सकती। अहंकार को तृप्त करने के लिए प्रशंसा प्राप्त कर लेने के बाद किसी को यह आशा न करनी चाहिए कि इस कार्य में उसे परमार्थ का दुहरा लाभ भी मिल जाएगा।

प्राचीनकाल में गुप्त दान की बड़ी महत्ता थी। बाइबिल में कहा गया है—“तू दाहिने हाथ से दान इस प्रकार कर कि तेरा बाँया हाथ भी जानने न पावे।” पुण्य और पाप का जितना बखान होता है उतना ही वह घट जाता है। लोकेषणा का लोभी ईश्वर का प्यारा नहीं हो सकता। प्रभु को तो निरभिमानता ही प्रिय है। अठारह पुराण विभिन्न काल में विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिखे गए हैं। पर उनमें से किसी ने भी अपना नाम न देकर व्यास जी को ही उनकी रचना का श्रेय दिया है। तुलसीकृत रामायण में कई व्यक्तियों ने अपनी कृतियों के क्षेपक लगाए पर उसमें अपना नाम नहीं तुलसीदास जी का ही नाम रखा। प्राचीनकाल में नाम से बचने की प्रवृत्ति थी। लोग नाम को नहीं, काम को महत्त्व देते थे। सत्कर्म करने से आत्मा में जो संतोष उत्पन्न होता और समीपवर्ती लोगों में जो गहरी श्रद्धा उत्पन्न होती है, उतना ही लाभ प्राप्त करके प्रत्येक सत्कर्मप्रेमी को संतुष्ट हो जाना चाहिए। सेवा का यही परिपूर्ण पुरस्कार है।

ऋषि आश्रमों से निकलने वाली प्रतिभाओं में यही विशेषता होती थी। गुरुकुलों और विद्यालयों में लौकिक सौख्य के स्थान पर संतोष का भाव जाग्रत किया जाता था। इसे अन्य समस्त उपलब्धियों से श्रेष्ठ माना जाता था। इसलिए विद्यार्थियों में प्रायः सभी अपनी महत्वाकांक्षाओं का विसर्जन कर देते थे और कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

जब-जब निराशाजनक, संघर्षपूर्ण और कठिन परिस्थितियाँ आती थीं और उनमें विचलित होने की आशंका उत्पन्न हो जाती थी तब संतोष ही एकमात्र ऐसी वृत्ति होती थी जो शिष्य को संबल प्रदान करती थी और वह निष्ठापूर्वक अपनी श्रद्धा और साधना में संलग्न बना रहता था।

इसी का प्रतिफल था कि विद्यार्थी जब आश्रमों में से निकलते थे तो उनमें फौलाद की-सी दृढ़ता होती थी। विद्या और विनय के आगार हुआ करते थे वे स्नातक। उनमें दैवी प्रतिभाएँ झाँका करती थीं। कर्मठता, साहस, शौर्य, चरित्रनिष्ठा कूट-कूटकर भरी होती थी। इन गुणों के प्रतिफल सांसारिक जीवन में भी परिलक्षित होते थे। सुख-समृद्धि और संपन्नता में राई-रत्ती भर की भी कमी नहीं होती थी। आत्म-साधना में श्रद्धा को संबल देने वाला संतोष ही इन विपुल सफलताओं का मूल था, आगे भी वह उतना ही आवश्यक है।

मनुष्य को अध्यात्म की प्रथम शिक्षा देने वाली वृत्ति का नाम है संतोष। मनुष्य को तत्परतापूर्वक विकास की उच्च स्थिति पर प्रतिष्ठित करने वाला गुण है संतोष। संतोष ही वह आधार है जिससे इहलौकिक और पारलौकिक आत्मशांति मिला करती है। आत्मसंतोष मनुष्य को नवनीत की तरह सुकोमल और स्निग्ध बनाता है तो हिमालय की तरह यशस्वी और दृढ़ भी बनाता है। इसलिए आध्यात्मिक गुणों में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संतोष को प्रमुख स्थान दिया गया है।

भगवान राम ने पिता की आज्ञा मानी। जंगल में रहे और अभावग्रस्त स्थिति में संतोष अनुभव किया। उससे उनकी महानता मर्यादा पुरुषोत्तम से भगवान की कोटि तक बढ़ी चली गई। सत्यवादी हरिश्चंद्र ने वचनबद्धता पराकाष्ठा तक निभाई। उसमें भी यश और सत्य की व्यापक आवृत्ति का माध्यम संतोष ही था, जिसने उन्हें भीषण परिस्थितियों में भी धैर्य और कर्तव्य का साहस प्रदान किया।

कार्तवीर्यों का समूल नाश करके परशुराम ने इक्कीस बार इस अष्टादश द्वीप वसुमती को क्षत्रियों से शून्य कर दिया तो भी उन्हें शांति नहीं मिली। अंत में उन्हें आत्मसंतोष प्राप्त करने के लिए कठोर तपश्चर्या करनी पड़ी। अपने पितरों से तप की आज्ञा लेते समय उन्होंने कहा—“पितामहों! अब हमें वह साधन बताओ जिससे आत्मसंतोष मिले।” आत्मसंतोष ही जीवन का अंतिम ध्येय है।

कच ने अपनी विद्या के प्रताप से महान यशस्वी होने पर कर्तव्य से संतोष को बड़ा माना और उसके समक्ष विद्या को नगण्य माना। गुरु शुक्राचार्य की विद्या लौटा दी पर उन्होंने वह कार्य नहीं किया जिससे आत्मा मलिन होती। संतोष वस्तुतः आत्मा को परमात्मा की दिशा में अग्रसर करने वाला प्रकाश है। धरती में इतनी सर्वमुलभ आत्मविद्या और कोई नहीं है।

मनुष्य जीवन के कर्तव्यों पर दृढ़ता का भाव लाता है संतोष। सामान्य परिस्थितियों में जो मनुष्य को अंतःकरण में भगवान बना देता है, वह है संतोष। संसार के लोगों की सेवा का सुख महापुरुषों ने उठाया। उनका मुख्य लक्ष्य आत्मसंतोष, जहाँ रहा वहीं महानता निखरी और संसार का कल्याण हुआ। जहाँ दंभ और पाखंड ने सिर उठाया वहाँ सेवा कुटिल महत्वाकांक्षा बन गई। न उससे संसार का भला हुआ और न व्यक्ति विशेष को ही श्रेय मिला।

वाहवाही और नामवरी के लिए ओछे उपायों का अवलंबन करना उतना ही हेय है जितना धन और वासना की पूर्ति अनैतिक उपायों से करना। इस मानसिक दुर्बलता ने समाज का अन्य किसी भी भयंकर बुराई से कम अहित नहीं किया है। सभ्य समाज की रचना के तीन प्रमुख आधारों में हमें सज्जनता का श्रेय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और हत्यारी लोकेषणा से दूर रहना चाहिए। आज

महत्वाकांक्षाओं की आग में सारी दुनिया जल रही है। उन्नति के नाम पर प्रगति की अभिलाषा से बुरे-बुरे दुष्कर्मों में संलग्न हैं। हमें संतोष का अमृत पीना और पिलाना चाहिए और यह समझना चाहिए कि वाहवाही व्यर्थ है। आत्मसंतोष के लिए श्रद्धापूर्वक सत्कर्म करते रहना ही श्रेष्ठ है। उसी में अपना और सबका कल्याण समाया हुआ है।

इच्छाएँ अनियंत्रित न हों

इच्छाओं का होना बुरा नहीं। बुरा है उनका नियंत्रित न होना। इच्छा उतनी ही करनी चाहिए जितनी अपनी सामर्थ्य हो। अपनी सामर्थ्य के बाहर की इच्छा करना अपने हर दुःख-द्वंद्वों को आमंत्रित करना है। किंतु इतने विवेकशील व्यक्ति कितने होते हैं, जो अपनी शक्ति तथा मनोरथों को समानांतर रख सकें? लोग अपनी क्षमताओं का अनुमान लगाए बिना ही अपनी इच्छाओं की डोर ढीली कर देते हैं और उनकी पूर्ति के लिए लालायित होने लगते हैं। अतः उनकी कामनाएँ अधूरी रहकर उनके लिए एक दुःखद समस्या बन जाया करती हैं।

यदि एक बार ही कोई बहुत बड़ा लक्ष्य निर्धारित न करके हम छोटी-छोटी मंजिलों को पार करते हुए चलें तो धीरे-धीरे एक बड़े लक्ष्य पर भी पहुँच सकते हैं। किंतु इच्छावान आदमी इतना आतुर अथवा उतावला होता है कि वह एक ही छलांग में सात समुद्र को पार कर जाना चाहता है। यदि कोई विद्यार्थी एम० ए० पास करने की कामना रखता है, तो उसे कक्षा-अनुकक्षा को पार करते हुए चलना पड़ेगा। यदि वह प्रारंभिक कक्षाओं की उपेक्षा करके एक साथ एम० ए० में पहुँचना चाहता है तो यह उसकी मूर्खता ही कही जाएगी। एम० ए० तक पहुँचने का जो क्रम निश्चित है, वह उसको अपना ही पड़ेगा। पूर्व कक्षाओं में यदि वह केवल एम० ए० तक पहुँचने की

उतावली से व्यग्र रहता है, तब भी कोई काम न चलेगा। उसे अपने एम० ए० के महान लक्ष्य पर पहुँचने के लिए क्रमबद्ध कक्षाओं का लक्ष्य बनाना पड़ेगा। उसे अपने चरम लक्ष्य को दृष्टिगोचर करके वर्तमान कक्षा को पास करना ही अपना लक्ष्य बनाना पड़ेगा और उतना धैर्य रखना पड़ेगा जितना कि वह निम्न कक्षाओं को पास करने की अवधि में ही इतना उतावला अथवा अधीर न हो जाए कि एम० ए० तक पहुँचना उसे एक पहाड़ लगने लगे। अत्यधिक उतावली होने से वह बीच में ही ऊबकर थक जाएगा। एम० ए० तक पहुँच सकना उसे असंभव जैसा लगने लगेगा और वह हिम्मत हारकर बीच में ही बैठ जाएगा।

आपका लक्ष्य क्या है? वास्तव में आप चाहते क्या हैं, उसका स्पष्ट ज्ञान रहना बहुत जरूरी है। लक्ष्यहीन जीवन भी बहुत बड़ी उलझन है। जिसका लक्ष्य स्पष्ट नहीं है किंतु हृदय में चाहना उठती रहती है, वह वास्तव में चाहता कुछ भी नहीं है। उसे मनोरथ मात्र करते रहने का व्यसन हुआ करता है। उस प्रकार का मनोरथी व्यक्ति आज यदि उस ओर बढ़ना चाहता है, तो कल दूसरी ओर। यदि आज वह व्यवसायी बनना चाहता है, तो कल एक बड़ा अधिकारी। आज यदि साहित्यकार बनने की इच्छा है तो कल राजनीति में स्थान पाने की कामना करने लगता है। आज यदि यशवान बनने का मनोरथ करता है तो कल धनवान बनने का। ऐसे इच्छाशील व्यक्ति का कोई एक लक्ष्य नहीं होता। वह इसी प्रकार कटी पतंग की तरह हवा के रुख पर तैरता हुआ अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ में उलझाता-सुलझाता हुआ खो दिया करता है।

लक्ष्यवान व्यक्ति वास्तव में वही कहा जाएगा जिसका एक सुनिश्चित लक्ष्य हो और जिसकी सारी शक्ति एकाग्र होकर उसे पाने

के लिए क्रमबद्ध अभियान में लगी हो। ऐसे लक्ष्यवान अथवा इच्छाशील व्यक्तियों की जिंदगी उलझन बनकर नष्ट नहीं होती। अन्यथा जो नित्य नए स्वप्न देखने और उन्हें पाने के लिए लालायित भर होता रहता है, वह कभी यह अनुभव ही नहीं कर सकता कि जिंदगी एक साफ सुलझी हुई पहेली है। वह एक ऐसा सीधा, सरल राजपथ है जिस पर आनंदपूर्वक चलकर अपने इच्छित गंतव्य स्थान पर पहुँचा जा सकता है। जो अपने लक्ष्य के प्रति अनजान, पथ के प्रति अपरिचित तथा गतिविधि से अनभिज्ञ है। उसकी जिंदगी उलझन भरी पहेली के सिवाय और क्या बन सकती है ?

लक्ष्य, पथ, शक्ति, संबल, क्रम तथा गतिविधि सब कुछ अनुरूप होने पर भी यदि धैर्य एवं स्थैर्य की कमी है, तब भी उसका जीवन समस्या बने बिना न रह सकेगा। मंजिल-मंजिल पार करते हुए चलने पर भी यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि आपके क्रमिक प्रयास सफल ही होते जाएँगे। हो सकता है कि आपको बीच की एक-एक मंजिल पर अनेक बार असफलताओं का सामना करना पड़े। आपका एक ही पड़ाव उतना समय ले ले जितना कि आपने अपने लक्ष्य के लिए निर्धारित कर रखा हो। ऐसी दशा में आप पर प्रतिगामिनी प्रतिक्रिया हो सकती है। आप निराश एवं हतोत्साहित हो सकते हैं। यदि आप बीच की असफलताओं से निराश अथवा हतोत्साहित हो गए तो आपका वांछित लक्ष्य दूर हो जाएगा। आपको एक-एक कदम बढ़ाना पहाड़ हो जाएगा। एक-एक मील काले कोस में बदल जाएगा।

इस निराशापूर्ण स्थिति से बचने के लिए आपको गीता के निष्काम कर्मयोग का आदर्श लेकर चलना पड़ेगा, जिसके अनुसार आपको अपने कर्तव्य तथा प्रयत्न को ही अपना अधिकार समझना होगा। आपको विश्वास रखना होगा कि परिश्रम एवं पुरुषार्थ ही हमारे

वश की बात है। उसका फल हमारे अधिकार के बाहर की बात है। सफलता में अखंड विश्वास लेकर असफलता को सहर्ष स्वीकार करने का साहस लेकर चलने वाला धीर पुरुष ही अपने लक्ष्य को पा सकता है। केवल सफलता के लिए उतावले व्यक्ति बहुधा असफल होकर अपने जीवन में असंतोष के बीज बोकर दुखी होते हैं।

जीवन एक सुलझा हुआ सरल मार्ग है। इसे अखंड प्रसन्नता के साथ पूरा किया जा सकता है। किंतु यह संभव होगा तभी जब मनुष्य अपनी स्थिति में पूर्ण संतुष्ट रहे। अपनी शक्ति-सीमा के अनुरूप वांछाएँ करे, उन्हें पाने के लिए संपूर्ण शक्ति का उपयोग करे और आकस्मिक असफलताओं को अंगीकार करने के लिए साहसपूर्वक तैयार रहे। अनियंत्रित मनोरथ, अस्थिर इच्छाएँ और केवल सफलताओं की उत्सुक कामना मनुष्य के सुलझे जीवन को निश्चय ही एक उलझी पहेली बना देगा। जिसको सुलझाते-सुलझाते उसकी सारी आयु निकल जाएगी और अंत में वह एक भयंकर असंतोष लिए संसार से विदा हो जाएगा। इसी प्रकार किसी मनुष्य का केवल सफलता ही चाहते रहना और असफलता का दर्शन होते ही दुखी अथवा हतोत्साह हो जाना भी एक इतनी बड़ी त्रुटि है, जिससे जीवन का महत्त्व बहुत कुछ घट जाता है। मानव जीवन एक अनमोल अवसर की तरह है, इसे सफलतापूर्वक सुख-शांति के साथ जी सकना स्वयं एक बड़ी सफलता है, जिसे पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए।

अशांति के चार कारण और उनका निवारण

व्यक्ति हो अथवा राष्ट्र, तब तक उन्नत एवं समृद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसमें शांति का अभाव रहेगा। उन्नति की सारी संभावनाएँ शांतिपूर्ण वातावरण में ही निहित रहती हैं। संघर्ष, युद्ध एवं क्षोभ उन्नति के सबसे बड़े शत्रु हैं। इनसे अशांति का जन्म होता है और

अशांति मानव की सृजन शक्ति को नष्ट कर डालती है। अशांति से क्षुब्ध चित्त मनुष्य का मन किसी काम में नहीं लगता और यदि वह हठपूर्वक लगाता भी है तो उसका काम ठीक से नहीं होता, जल्दी थक जाता है और काम को छोड़कर बैठा रहता है। अकर्मण्यता की स्थिति में उन्नति असंभव है।

बड़े से बड़े व्यक्ति और उन्नत से उन्नत राष्ट्र को लीजिए। जब तक उनका वातावरण शांतिपूर्ण बना रहता है वे उन्नति के मार्ग पर चलते हुए दिन-दिन आगे ही बढ़ते रहते हैं। किंतु ज्यों ही उनमें आंतरिक क्षोभ अथवा कलह उत्पन्न होता है, उनकी उन्नति स्थिर नहीं रह पाती, उनका पतन हो जाता है, विनाश हो जाता है। संसार में न जाने कितने व्यक्ति एवं राष्ट्र इसी अशांति के कारण मिटे हैं और मिटते रहते हैं। उन्नति करने और उसको स्थिर बनाए रखने के लिए शांति की नितांत आवश्यकता है।

अशांति के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं किंतु चार मूलभूत कारण हैं—(१) अभाव, (२) अहं, (३) असहयोग तथा (४) अज्ञान। इन कारणों की उपस्थिति में कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र शांतिपूर्ण स्थिति में नहीं रह सकता।

जहाँ अभाव है, आवश्यकताओं की अपूर्ति है, वहाँ शांति का हो सकना संभव नहीं। मनुष्य कितना भी संतोषी एवं सहनशील क्यों न हो, यदि उसे रोटी, कपड़े, निवास स्थान, आवश्यक वस्तुओं की कमी रहेगी तो शांतिपूर्वक नहीं रह सकता। पेट की ज्वाला कब तक सहन की जा सकती है? शीत, घाम, वर्षा आदि के कष्टों की कब तक उपेक्षा की जा सकती है? फिर मनुष्य अकेला तो होता नहीं, उसका परिवार भी होता है, उसके बच्चे तथा आश्रित भी होते हैं। मनुष्य अपने पर कष्ट एक बार सहन भी कर सकता है, चुपचाप पड़ा रह सकता

है, किंतु इतना कठोर कदापि नहीं हो सकता कि अपने आश्रितों तथा बच्चों को अभाव का कष्ट सहते देखकर भी विचलित न हो। वह अवश्य विचलित होगा, उसे चिंता होगी, जिसके परिणामस्वरूप उसकी शांति सुरक्षित नहीं रह सकती। वह अशांत, बेचैन तथा क्षुब्ध होगा ही।

अहं भी अशांति का बहुत बड़ा कारण है। मनुष्य के पास धन, जन, जमीन सब कुछ है, किसी प्रकार का अभाव नहीं है। रोटी, कपड़ा, घर, मकान सबकी सुविधा है, हर वस्तु आवश्यकता भर ही नहीं, अधिकतापूर्ण है, तब भी वह अहंकार की दुर्बलता के कारण अशांत रहेगा। अहं प्रधान व्यक्ति अपनी मनोकूलता में जरा-सा विघ्न पड़ते ही उत्तेजित हो उठता है। उसे क्रोध ही आता है, जिससे उसका चित्त अशांति से भर जाता है। अहं का दोष मनुष्य को ईर्ष्यालु भी बना देता है। अपनी उन्नति के सामने अहंकारी व्यक्ति दूसरे की उन्नति सहन नहीं कर पाता। वह यथा-संभव हर उचित-अनुचित कोशिश करता है कि वह तो दिन-दिन उन्नति करता रहे किंतु कोई दूसरा उन्नति न कर सके। समाज में सब उससे नीचे तथा निर्धन ही रहें। न कोई उसके बराबर हो सके और न आगे निकल सके। दूसरे की प्रगति में रोड़े अटकाना अहंकारी का विशेष दोष है। इस निम्न प्रवृत्ति के कारण ईर्ष्या, द्वेष, कलह एवं संघर्ष का जन्म होता है और तब उस अशांत स्थिति में समाज अथवा व्यक्ति का शांत रहना किस प्रकार संभव हो सकता है? अहंकारी व्यक्ति किसी को उन्नति करते देखेगा तो उसे डाह होगी, उसके चित्त की शांति नष्ट हो जाएगी। किसी की प्रगति रोकने में असफल होने पर आत्मग्लानि होगी जिससे शांति का रहना संभव नहीं। किसी के पथ में अवरोध बनने से अपवाद एवं लांछन का लक्ष्य बनना पड़ेगा, जिससे शांति का भंग होना स्वाभाविक है। अहंकारी व्यक्ति अपने स्वभाव-दोष के कारण कभी भी शांति नहीं पा सकता।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की व्यवस्था परस्पर सहयोग पर ही निर्भर करती है। असहयोग की स्थिति में समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जाया करती है। कोई भी सामाजिक प्राणी अकेले अपने बल पर जीवन की गाड़ी को नहीं खींच सकता। मालिक से यदि मजदूर सहयोग न करे तो उसका कारोबार नहीं चल सकता। मालिक का असहयोग मजदूर के लिए रोटी, रोजी का अभाव ला सकता है। स्त्री-पुरुष के असहयोग में परिवार की सुख-शांति नष्ट हो सकती है। पिता, पुत्र का असहयोग विनाश का कारण बन सकता है। व्यापारी तथा किसान के बीच असहयोग उन दोनों की ही नहीं, समस्त समाज की हानि का हेतु होगा। जनता एवं सरकार का पारस्परिक असहयोग देश को गिरा देता है। असहयोग से उत्पन्न इन तथा इन जैसी असंख्यों हानियों के बीच व्यक्ति अथवा समाज की शांति किस प्रकार अक्षुण्ण रह सकती है? मनुष्य आज किसी न किसी रूप में दूसरे मनुष्यों पर निर्भर है। एक अकेले वह अपना जीवन चला सकने में समर्थ नहीं है।

असहयोग स्वार्थ एवं संघर्ष को भी जन्म देता है। स्वार्थी व्यक्ति या तो स्वभाव से असहयोगी होता है अथवा असहयोग को प्रश्रय देने से तदनुसार बन जाता है। सहयोग की स्थिति में जिस प्रेम, पारस्परिकता, सहानुभूति तथा सहकारिता की वृद्धि होती है, वह रुद्ध हो जाती है। इन आवश्यक मानवीय गुणों के अभाव में समाज में शांति का वातावरण संभव नहीं हो सकता। असहयोगी केवल स्वार्थी ही नहीं, कुटिल एवं कपटी भी होता है। वह दूसरे के काम तो नहीं ही आता, साथ ही किसी न किसी आडंबर द्वारा दूसरे से लाभ उठा लिया करता है। वह अपने असहयोग को इस ढंग से सहयोग का रूप दे दिया करता है कि सामान्य जन उसके दोष को नहीं जान पाते किंतु जब उसका दोष समाज पर उद्घाटित हो जाता है, तब उसे समाज का असहयोग इस

सीमा तक सहन करना पड़ता है कि उसका पूरा जीवन ही अशांत हो जाता है। समाज में असहयोग की प्रवृत्तियाँ अशांति का बहुत बड़ा कारण हैं।

अज्ञान तो अशांति का जीता-जागता रूप ही है। जिस प्रकार अंधकार में मनुष्य भटकता हुआ बेचैन रहा करता है, उसी प्रकार अज्ञान की दशा में भी मनुष्य अशांत रहा करता है। अज्ञानी पग-पग पर ठगा जाता है। अज्ञता के कारण वह किसी काम को सफलतापूर्वक नहीं कर पाता। मूढ़ मनुष्य का कहीं भी आदर नहीं होता। अज्ञानी व्यक्ति जीवन-व्यवस्था से शून्य रहकर अपने लिए कष्टों के बीज बोता रहता है। मूढ़ मनुष्य को सत्य-असत्य, हित-अहित का ज्ञान नहीं होता। विवेकहीनता की दशा में उसके हर व्यवहार में असत्य एवं कृत्रिमता का समावेश हो जाता है। आडंबर, प्रदर्शन एवं कृत्रिमता अज्ञान का ही अभिशाप है। अव्यावहारिक होने से अज्ञानी व्यक्ति समाज में यथायोग्य शिष्टाचार पालन करने में भी भूल करता रहता है, जिससे उसे तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता है, जो उसमें मानसिक क्षोभ को जन्म देता है।

अज्ञान के कारण, जीवन का लक्ष्य न जानने के कारण, मनुष्य अधिकतर रास्ते से भटककर कंटकाकीर्ण पगडंडियों में उलझ जाता है। जीवन की सारी हानियाँ, असफलताएँ, निराशाएँ अज्ञान के ही फल कहे गए हैं। अज्ञान के कारण ही मनुष्य असत्य में सत्य और सत्य में असत्य की भ्रांति पा जाता है। अनिश्चय के कारण अज्ञानी व्यक्ति भय, संदेह, अविश्वास एवं आशंका से पग-पग पर आक्रांत एवं अशांत रहा करता है। रूढ़िवाद, मूढ़वाद एवं अंधविश्वास अज्ञान की ही तो देन हैं। अज्ञान के कारण मनुष्य पराधीन तथा परावलंबी बना रहता है जिससे उसे परानुग्रहपूर्ण जीवन बिताने की यातना सहन करनी पड़ती है।

पराधीनता की स्थिति में भी कोई शांत चित्त रह सकता है, यह बात सर्वथा असंभव है। अज्ञानी व्यक्ति समाज में दुर्वृत्तियों तथा दुराचार को जन्म देता है जिसके कारण वह दूसरों की शांति में बाधक बनकर अपनी शांति भी नष्ट कर लिया करता है।

शांतिपूर्ण स्थिति के लिए मनुष्य को पुरुषार्थी, सुशील, सहयोगी तथा विवेकवान बनना ही होगा। मनुष्य अपने सामाजिक व्यक्तित्व को पहचाने। समाज की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझे। अपने सामाजिक स्वरूप को पहचान लेने पर मनुष्य कोई भी ऐसा काम करने में संकोच करता है, जो किसी प्रकार भी सार्वजनिक जीवन के लिए अहितकर हो सकता है। जब मनुष्य व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देता है, तो उसकी स्वार्थ एवं संकीर्णता की दुःखदायी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। समाज का हित आगे रखकर सोचने और व्यवहार करने वालों को पूरे समाज का सहयोग अनायास ही मिलने लगता है जो उनकी उन्नति एवं विकास में सर्वथा सहायक होता है। समाज द्वारा हाथोंहाथ लिए गए व्यक्ति का जीवन कितना सुख-शांतिपूर्ण हो सकता है, यह किसी भी सच्चे समाजसेवक के निकट संपर्क में आकर ही जाना जा सकता है।

सामाजिक सहयोग एवं सहकारिता सुख-शांतिपूर्ण जीवन की गारंटी है। मनुष्यों का पारस्परिक सहयोग तथा सहकारिता समाज में अभाव को प्रवेश नहीं करने देती और वर्तमान अभाव को भगा देती है। सहयोग एवं सहकारिता की स्थिति में हर मनुष्य दो हाथ से हजार हाथ वाला हो जाता है।

किंतु मनुष्य को इन गुणों की उपलब्धि भी तब ही हो सकती है, जब वह अज्ञान के निविड़ अंधकार से निकलकर जीवन के सच्चे प्रकाश में आए। अज्ञानी व्यक्ति प्रेम, सहानुभूति, सहयोग तथा निस्स्वार्थ भावना के मानवीय गुणों की महत्ता से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। दुराग्रह

एवं दुर्व्यवहार अज्ञान के कष्ट-कारक दोष हैं। सत्य-असत्य एवं उचित-अनुचित का निर्णय कर सकने वाला ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग हर प्रकार से सहायक हो सकते हैं। जिन्हें संयोगवश स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त नहीं है उन्हें सत्संग तथा प्रामाणिक व्यक्तियों के कथनों, निर्देशों तथा उपदेशों से निश्चय करके अपने चरित्र का विकास करना चाहिए। सत्य के समर्थन में अपनी मान्यताओं, परंपराओं, धारणाओं, रूढ़ियों, आग्रहों तथा अंधविश्वासों का त्याग कर सकने का साहस भी ज्ञान ही है। सत्य को यथावत स्वीकार कर लेने और उसको अपने व्यवहार में लाने वाले व्यक्ति ज्ञानी ही कहे जाएँगे, फिर चाहे वे निरक्षर ही क्यों न हों!

सामाजिक चेतना में ओत-प्रोत पुरुषार्थी व्यक्ति के जीवन में अभाव अथवा अशांति की संभावना अधिक नहीं रहती। अशांति, असंतोष एवं अभाव तो आलसी, स्वार्थी, असहयोगी तथा सामाजिक व्यक्ति का दाय-भाग है, जो अपनी अज्ञानपूर्ण प्रवृत्तियों के कारण पाएगा और भोगेगा। वर्तमान समय में यह त्रुटि हमारे जनजीवन में बहुत अधिक घर कर गई है। ऐसे व्यक्तियों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक है जो व्यक्तिगत जीवन में सामाजिक सहयोग के महत्त्व को समझते हैं और अपने कार्यों में सार्वजनिक हित का दृष्टिकोण रखते हैं। यदि इस त्रुटि का मार्जन किया जा सके तो हमारी स्थिति में अनेक शुभ परिवर्तन हो सकते हैं।

यदि आपके जीवन में अशांति है, असंतोष है तो अपनी परीक्षा कीजिए, अपनी प्रवृत्तियों को परखिए और उन कारणों को खोज-खोजकर निकालते रहिए, जो उसके आधार बने हुए हैं और तब देखिए कि आपकी जीवनधारा सुख एवं शांति के सुंदर कूलों के बीच बहती चली जाती है या नहीं।



हमारा सत्संकल्प

- ❖ हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।
- ❖ शरीर को भगवान का मंदिर समझकर आत्मसंयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।
- ❖ मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाए रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे।
- ❖ इंद्रियसंयम, अर्थसंयम, समयसंयम और विचारसंयम का सतत अभ्यास करेंगे।
- ❖ अपने आप को समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।
- ❖ मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्तव्यों का पालन करेंगे और समाजनिष्ठ बने रहेंगे।
- ❖ समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छिन्न अंग मानेंगे।
- ❖ चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।
- ❖ अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।
- ❖ मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।
- ❖ दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे, जो हमें अपने लिए पसंद नहीं।
- ❖ नर-नारी परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।
- ❖ संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य-प्रसार के लिए अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।
- ❖ परंपराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे।
- ❖ सज्जनों को संगठित करने, अनीति से लोहा लेने और नवसृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।
- ❖ राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रांत, संप्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे।
- ❖ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है—इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनाएंगे, तो युग अवश्य बदलेगा।
- ❖ 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा', 'हम सुधरेंगे-युग सुधरेगा' इस तथ्य पर हमारा परिपूर्ण विश्वास है।



मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ० प्र०)